Gyanshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2020 GISRRJ | Volume 3 | Issue 5 | ISSN : 2582-0095

कालिदास के काव्यों में धर्म–विषयक : कर्म सिद्धान्त एवं पुनर्जन्म

डॉ0 अंजलि उपाध्याय
पी0एच–डी0 (संस्कृत)

Article Info

Volume 3 Issue 5

Page Number : 129-133

Publication Issue :

September-October-2020

Article History

Accepted : 15 Oct 2020

Published : 26 Oct 2020

सारांश– संस्कृति निर्माण में धर्म एवं नीति का महत्त्वपूर्ण योग रहता है। ये दोनों समाज के दृढ़ आधारस्तम्भ है। जिस प्रकार पहियों के सहयोग के बिना रथ अपने गन्तव्य पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता, उसी प्रकार धर्म एवं नीति के बिना संस्कृति का निर्माण असम्भव है। धर्म मानव–जीवन के चार पुरुषार्थों– धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष में प्रथम एवं मूर्धन्य है। इसके द्वारा ही अर्थ, काम एवं मोक्ष की सिद्धि होती है। इसी कारण आचार्यों ने इसे अभ्युदय एवं निःश्रेयस–सिद्धि का मूल माना है। कालिदास के अनुसार कर्म के दो प्रकार होते है– शुभ कर्म और अशुभ कर्म। इन द्विविध कर्मों का धर्म तथा अधर्म अथवा पुण्य एवं पाप कर्म की संज्ञा प्रदान की जाती है। जो कर्म आसक्तिपूर्वक काम, क्रोध, लोभ, मोह की भावना से किये जाते है, उनके किये जाने पर मनुष्य की बुद्धि में संस्कार पड़ जाते है, ये संस्कार ही कर्माशय अथवा कर्म संस्कार कहलाते है। कालिदास ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकृत किया है कि प्रसूत पुण्यकर्माशय वाले प्राणियों की अभिलाषाएँ शीघ्र ही परिपक्व हो जाती है। इसके विपरीत पाप या अशुभ कर्मों से अशुभ या पाप कर्माशय बनते है, जो दुःखात्मक फलभोग देते है। जैसे नरक योनि में जन्म लेना, पशुतिर्यक, आदि शरीरों की प्राप्ति तथा प्रबल दुःख भोग। इन शुभाशुभ कर्मों के फल वर्तमान जीवन (दृष्टजन्म) तथा भविष्यज्जीवनों (अदृष्ट जन्म) में भोगे जाने योग्य होते है। अतः कालिदास की नाट्यकृतियों में कर्म–सिद्धान्त विषयक ऐसे विचार प्रचुर रूप में उपलब्ध होते है, जो कर्म–विपाक सिद्धान्त का अविकल प्रतिपादन करते है। उन्होंने अपनी नाट्यकृतियों में कर्मफल मीमांसा को प्रसंगानुकूल अनेक स्थलों पर अभिव्यक्ति दी है। जिनका संकलन करके विचार करने पर कवि द्वारा स्वीकृत कर्म–सिद्धान्त का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

मुख्य शब्द– कालिदास, काव्य, धर्म, कर्म, सिद्धान्त, पुनर्जन्म।

संस्कृति निर्माण में धर्म एवं नीति का महत्त्वपूर्ण योग रहता है। ये दोनों समाज के दृढ़ आधारस्तम्भ है। जिस प्रकार पहियों के सहयोग के बिना रथ अपने गन्तव्य पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता, उसी प्रकार धर्म एवं नीति के बिना संस्कृति का निर्माण असम्भव है। धर्म मानव–जीवन के चार पुरुषार्थों– धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष में प्रथम एवं मूर्धन्य है। इसके द्वारा ही अर्थ, काम एवं मोक्ष की सिद्धि होती है। इसी कारण आचार्यों ने इसे अभ्युदय एवं निःश्रेयस–सिद्धि का मूल माना है।

Copyright : © the author(s), publisher and licensee Technoscience Academy. This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution Non-Commercial License, which permits unrestricted non-commercial use, distribution, and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited

व्याकरण के अनुसार 'धर्म' शब्द 'धृ' धातु में मन् प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होता हैं इसके व्युत्पत्ति लभ्य तीन अर्थ (या व्याख्याएँ) है– प्रथम **'ध्रियते लोकः अनेनइति धर्मः'** अर्थात् जिससे लोक धारण किया जाये वही धर्म है, द्वितीय **'धरति धारयति व लोकं इति धर्मः'** अर्थात् जो लोक को धारण करे वह धर्म है। और तृतीय **'ध्रियते यः स धर्मः'** अर्थात् जो दूसरें द्वारा धारण किया जाय उसी की धर्म संज्ञा है।

महाभारत में धर्म का लक्षण इस प्रकार दिया गया है– **धारणात् धर्ममित्याहु धर्मो धारयति प्रजाः।** इसके अनुसार धारण करना ही धर्म है।

धर्म के प्रकार– त्रिगुण भेदानुसार धर्म भी मूलरूप से सात्विक, राजस एवं तामस तीन प्रकार का होता है।

सात्त्विक धर्म– जिन कर्मों में किसी प्रकार की फलों की कामना नहीं होती ये ही हमारे कर्त्तव्य कर्म है इस प्रकार की बुद्धि से जो कर्म अनुष्ठित होते है उनको सात्त्विक धर्म (कर्म) कहते है तथा सात्विक धर्म का अनुष्ठान करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

राजस धर्म– मोक्ष के निमित्त संकल्प करके जो कार्य अनुष्ठित होते है उनको राजस धर्म कहते है।

तामस धर्म– कर्म में विधि की अपेक्षा न करके केवल कर्म बुद्धि से जो कार्य अनुष्ठित होता है, उसको तामस धर्म कहते है।

इस प्रकार गुणों के आधार पर धर्म तीन प्रकार के होते है।

धर्म और समाज– धर्म और समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। धर्म ही समाज को धारण करता है या समाज ही धर्म को धारण करता है इससे यह तो स्पष्ट है कि समाज धर्म को धारण करता है किन्तु धर्म समाज को धारण करने की बात इस भाव से चरितार्थ है कि धर्म नष्ट होने पर समाज का भी विनाश अवश्यम्भावी है। अर्थात् धर्म के नष्ट होने पर समाज में कलह पैदा होता है और क्रम से वह युद्ध एवं महायुद्ध का रूप ले लेता है, तथा सम्पूर्ण समाज या राष्ट्र का ही विनाश कर देता है।

धर्म के ह्रास होने पर राजनैतिक, सामाजिक तथा पारिवारिक या गृह कलह पैदा होते है, और उसका परिणाम समाज के लिए अनिष्ट कारक होता है। उपर्युक्त उदाहरणों से यह देखने का प्रयास किया कि धर्म के अनिष्ट से सभा का अनिष्ट अवश्यम्भावी है अब यह देखना है कि धर्म की स्थापना से समाज के विकास में कैसा और कितना प्रभाव पड़ता है। धर्म के पालन से समाज का आध्यात्मिक विकास भर नहीं होता बल्कि भौतिक विकास भी पूर्णरूप से होता है। इस प्रकार धर्म के द्वारा समाज के व्यष्टि या समष्टि का पूर्ण होने पर समाज में धर्म के प्रति आस्था दृढ़ हो जाती है। आस्था वह दशा है जब धर्म के प्रति श्रद्धा इतनी प्रगाढ़ हो जाती है कि समष्टि या व्यष्टि बिना किसी हिताहित विचार के स्वाभाविक रूप से धर्म का पालन करता है, तथा कभी धर्म के पालन में त्रुटि होने पर वह दुःखी हो जाता है।

इस प्रकार धर्म के प्रति आस्था दृढ़ हो जाने पर समाज में अनायास ही धर्म पालन की प्रवृत्ति बन जाती है, और उससे समाज में सुख–शान्ति का वातावरण छा जाता है। भगवान राम के धर्म परायण प्रजा समाज का चित्र महाकवि तुलसी के शब्दों में इस प्रकार है–

''रामराज बैठे त्रै लोका। हरषित भये गये सब शोका।।
बयरू न कर काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई।।
'बरनाश्रम निज–निजधरम, निरत वेद पथ लोग।
चलहि सदा पावहिं सुखहि, नहिं भय शोक न रोग।।
दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज्य नहि काहुहिं व्यापा।।
सब नर करहि परस्पर प्रीती। चलहि स्वधर्म निरत श्रुति नीती।।
चारिउ चरण धर्म जग माही। पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाही।।

राम, भगति रत नर अरू नारी। सकल परम गति के अधिकारी।।
नहिं दरिद्र कोउ दुःखी न दीना। नहि कोउ अबुधन लच्छनहीना।
अल्प मृत्यु नहि कवनिहुँ पीरा। सब सुन्दर सब निरूज शरीरा।।[1]

इस उदाहरण से यह सिद्ध है कि धर्म के पालन से समाज में सुख शान्ति एवं ऐश्वर्य की वृद्धि होती है।

धर्माचरण– इसके अन्तर्गत व्रत–उपवास, सन्ध्या–वन्दना, तपश्चर्या, देवार्चन, यज्ञानुष्ठान, तीर्थयात्रा षोडश संस्कार एवं अतिथि–सत्कार का समावेश किया जा सकता है।

कर्म सिद्धान्त एवं पुनर्जन्म– धर्माचरण और धर्मनिष्ठा के गर्भ में अच्छे जन्म की कामना ही समाहित है। यह कामना मनुष्य को पापों से बचाकर सदाचरण करने की प्रेरणा देती है। जीव को उसके द्वारा किये गये कर्मों का फल भोग अवश्य ही करना पड़ता है, क्योंकि अनुक्त कर्म शतकल्प पर्यन्त भी क्षीण नहीं हो सकते।[2] यदि यह कहा जाय कि कर्म न किये जाने पर तज्जन्य फलभोग नहीं होगा, इसलिए कर्म किये ही न जाय, तो इसका समाधान गीताकार के अनुसार इस प्रकार है कि कोई भी प्राणी कर्म किये बिना नहीं रह सकता, क्योंकि प्रकृतिज गुणों के कारण सभी प्राणी अवश होकर कर्म करते है।[3] ऐसी स्थिति में जबकि कर्म अवश्यमेव कर्त्तव्य है, तो कर्म का फल भोग भी स्वयं आपातित हो जाता है। कर्म फल की यह परम्परा अनादि एवं अनन्त है, जो पुनर्जन्म अथवा पुनरागमन का हेतु है। इस कर्मबन्ध से मुक्ति प्राप्त कर लेना ही स्व स्वरूपोपलब्धि रूप मोक्ष है।

कालिदास के अनुसार कर्म के दो प्रकार होते है– शुभ कर्म और अशुभ कर्म। इन द्विविध कर्मों का धर्म तथा अधर्म अथवा पुण्य एवं पाप कर्म की संज्ञा प्रदान की जाती है।[4] जो कर्म आसक्तिपूर्वक काम, क्रोध, लोभ, मोह की भावना से किये जाते है, उनके किये जाने पर मनुष्य की बुद्धि में संस्कार पड़ जाते है, ये संस्कार ही कर्माशय अथवा कर्म संस्कार कहलाते है। कालिदास ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकृत किया है कि प्रसूत पुण्यकर्माशय वाले प्राणियों की अभिलाषाएँ शीघ्र ही परिपक्व हो जाती है। इसके विपरीत पाप या अशुभ कर्मों से अशुभ या पाप कर्माशय बनते है, जो दुःखात्मक फलभोग देते है। जैसे नरक योनि में जन्म लेना, पशुतिर्यक, आदि शरीरों की प्राप्ति तथा प्रबल दुःख भोग।[5] इन शुभाशुभ कर्मों के फल वर्तमान जीवन (दृष्टजन्म) तथा भविष्यज्जीवनों (अदृष्ट जन्म) में भोगे जाने योग्य होते है।[6]

अब प्रश्न उठता है कि प्रारब्ध कर्माशय किसे कहते है? जिनकी फल प्रदता तत्त्व ज्ञान के बाद भी नहीं अवरूद्ध हो पाती। शास्त्रों में कर्म विपाक सिद्धान्त का सही–सही रूप स्पष्ट करते हुए कर्माशयों का बैविध्य निरूपित किया है। ऐसे कर्म संस्कार जिनका फल भोग मिलना आरम्भ हो चुका होता है, ये प्रारब्ध कर्माशय कहे जाते है। पूर्वजन्मों में किये गये अनारब्ध फलक कर्मोशयों को संचित कर्म संस्कार तथा वर्तमान जीवन में किये गये तथा किये जाने वाले अनारब्ध फलक कर्म संस्कारों को क्रियमाण कर्माशय की संज्ञा प्रदान की गई है। इनमें से प्रारब्ध कर्माशय बड़े प्रबल कहे जाते है, क्योंकि इनकी फल प्रदत्ता को ज्ञानाग्नि

---

1 तुलसीदासकृत रामचरितमानस उत्तरकाण्ड दोहा क्रं0 20–21, पृ0 485

2 नामुङ्क्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतेरपि।
अवश्य मेव हि मोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।। (स्मृतिवचनात्)

3 न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।– गीता 3/5

4 ममैव जन्मान्तर पाटकानां विपाक विस्फूर्जथुर प्रसह्यः।– रघु0 14/62 पापकर्म

5 अखण्डं पुण्यानां फलमिव तद्रूपमनघम्। अभि0शाकु0 2/10
तव सुचरितमङ्गुलीयं नूनं प्रतनु ममैव विभाव्यते फलेन। अभि0शा0 6/11 पुण्यकर्म

6 हन्त मदीयैर्दुरतिपरिणामैमैघोऽपिशतह्रदा शून्यः संवृतः।– विक्रमो0 41, पृ0 211

भी नहीं रोक पाती। प्रारब्ध कर्माशय तथा उनकी नियत फल प्रदता का कालिदास ने अपनी नाट्यकृतियों में अनेकशः स¿ेत किया है। 'विक्रमोर्वशीय' त्रोटक के तृतीय अ¿ में आये हुए एक प्रसÁ में प्रारब्ध कर्माशयों का प्राबल्य स्पष्ट करते हुए कालिदास ने यह स्वीकार किया है। विक्रम प्रारब्ध कर्मों के विपाकोन्मुख होने पर बुद्धि तथा इन्द्रियों की स्थिति तदनुरूप (प्रारब्ध कर्मों के विपाक के अनुरूप) हो जाती है।[7]

प्रारब्ध कर्माशयों के वर्णन प्रसÁ में कालिदास ने भाग्य, विधि, भवितव्यता, देव आदि पदों का प्रयोग किया है।[8] पूर्वजन्मों में किये गये जिन संचित एवं क्रियमाण कर्म संस्कारों का फल मिलना नहीं आरम्भ हुआ रहता, ज्ञानोदय से उनका ही नाश हो जाना निश्चित है। रघुवंश महाकाव्य के अष्टम सर्ग में इस तथ्य की तथता प्रतिपादित करते हुए कालिदास ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि ज्ञानाग्नि के द्वारा अनारब्धफलक (अर्थात् संचित एवं क्रियमाण) कर्माशयों की ही दग्धबीजता होती है, प्रारब्ध कर्माशयों की नहीं। तात्पर्य यह है कि जिन कर्मों के फलोन्मुख होने पर जीव को प्रकृत जन्म प्राप्त हुआ, और उस जन्म में तत्त्वज्ञान हुआ, वे कर्म (प्रारब्ध) दग्ध नहीं होते, तद्व्यतिरिक्त अन्य सकल कर्म संस्कारों का ब्रह्मज्ञान के अनन्तर विनाश हो जाता है, इसीलिए प्रवृतफलक (प्रारब्ध) कर्माशयों को ज्ञान फल (मोक्ष) का प्रतिबन्धक माना जाता है, तथापि वे ऐकान्तिक रूप से प्रतिबन्धक नहीं होते, क्योंकि प्रारब्ध कर्मों का फलभोग द्वारा क्षय होने पर ज्ञानी को मुक्ति (विदेह केवल्य) प्राप्त होता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि एक कर्माशय एक जन्म देता है या अनेक। अन्य विकल्प यह है कि अनेक कर्मों से अनेक जन्म मिलते है, या एक। इसका समाधान शास्त्रकारों ने इस प्रकार दिया है कि एक कर्माशय से एक या अनेक जन्म स्वीकार करने पर उनके फलभोग के समय का अभाव होने के कारण लोक में कर्म–फल सिद्धान्त के प्रति अनाश्वास प्रसक्त होगा, जो कि सर्वथा अभीष्ट है। इसी प्रकार द्वितीय विकल्प में प्रथम पक्ष में भी पूर्व दोषानुषङ्ग होने के कारण उसे नहीं स्वीकार किया जा सकता। द्वितीय पक्ष में अनेक कर्माशयों से एक जन्म का सिद्धान्त स्वीकार किया जाता है।

कर्म–विपाक की प्रक्रिया का निरूपण शास्त्रों में इस प्रकार किया गया है कि एक जन्म और उसके बाद वाली मृत्यु के बीच किये गये कर्मों से बने हुए पुण्यापुण्य संस्कारों का चित्त में गुण–प्रधान भाव से अवस्थित विचित्र एक गठ्ठर–सा बना रहता है, जिसके शुभाशुभत्व का प्रकाशन उस मृत्यु से होता है। वह पुंजीभूत कर्माशय प्रचय ही अपने फलों के अनुकूल अगला जन्म देता है, तथा उस अगले जीवन की आयु तथा फल भोग निर्धारित करता है। जन्म, आयु तथा भोग ..... यही तीन मुख्य विपाक या फल है, जो कर्म संस्कारों से प्राप्त होते है।

शास्त्रसम्मत इस विचारधारा को मान्यता प्रदान करते हुए कालिदास ने मृत्यु के अनन्तर प्राणियों की गति कर्मानुसार स्वीकार की है।

अतः कालिदास की नाट्यकृतियों में कर्म–सिद्धान्त विषयक ऐसे विचार प्रचुर रूप में उपलब्ध होते है, जो कर्म–विपाक सिद्धान्त का अविकल प्रतिपादन करते है। उन्होंने अपनी नाट्यकृतियों में कर्मफल मीमांसा

---

[7] भवितव्यतानुविधायीनि बुद्धीन्द्रियाणि।

[8] विधिनियोगेन0.....मालविका0 5, पृ0 214
भवितव्यतानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र0। अभि0शाकु0 1/15
भवितव्यतानां खलु बलवती0– अभि0शाकु0 6, पृ0 218
नास्ति विधेरलङधनीयम्– विक्रमो0 4, पृ0 183
देव नस्याः शमयितुं सोमतीर्थः गतः। अभि0शाकु0 1, पृ0 20

को प्रसÁानुकूल अनेक स्थलों पर अभिव्यक्ति दी है। जिनका स¿लन करके विचार करने पर कवि द्वारा स्वीकृत कर्म–सिद्धान्त का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. महाकवि कालिदास की दार्शनिकता– डॉ0 उमारानी त्रिपाठी, राहुल पब्लिशिंग हाउस, 348/6, शास्त्री नगर, मेरठ, 2004
2. कालिदास के ग्रन्थों पर आधारित भारतीय संस्कृति– डॉ0 गायत्री वर्मा, चौखम्बा, वाराणसी।
3. कालिदास की कृतियों में धर्मशास्त्रीय विषय– डॉ0 श्रीपति त्रिपाठी, नाग प्रकाशक, जवाहर नगर, दिल्ली।
4. कालिदास और उनका युग– भगवतशरण उपाध्याय, इलाहाबाद, 1956
5. कालिदास और भवभूति के नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन– डॉ0 सुरेन्द्र देव शास्त्री, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1969
6. संस्कृत नाटकों में समाज चित्रण – डॉ0 चित्रा शर्मा
7. मनु का राजधर्म – डॉ0 श्यामलाल पाण्डेय
8. हिन्दू संस्कार – डॉ0 राजबली पाण्डेय